राज्य का सुरक्षा-विमर्श बनाम लोकतांत्रिक अधिकार

अदालती फ़ैसलों के आईने में राजद्रोह विरोधी क़ानून

अनुष्का सिंह

उदारतावादी सिद्धांत और संविधानवाद की बुनियाद पर खड़ा लोकतंत्र हमेशा एक जटिल द्वंद्व से जूझता रहता है। एक तरफ़ लोकतंत्र की अनिवार्यता व्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार रेखांकित करती है, और दूसरी तरफ़ राज्य के तार्किक औचित्य का प्रश्न उसकी सुरक्षा के लिए पैदा होने वाले ख़तरों का सवाल उठा कर राजद्रोह विरोधी क़ानून के ज़रिये इस स्वतंत्रता को सीमित करता है। इस द्वंद्व या विरोधाभास का विश्लेषण न्यायिक विमर्श में मिलता है जिसके ज़रिये सही मायने में एक सैद्धांतिक मॉडल से आगे बढ़ कर उत्तर-औपनिवेशिक भारत के संविधान और लोकतंत्र का आकलन किया जा सकता है। इस चिंतन की पृष्ठभूमि कुछ बुनियादी प्रश्नों से बनती है— जैसे, लोकतंत्र में राजद्रोह जैसे क़ानून की क्या भूमिका है? क्या राजद्रोह का अपराध वाकई राज्य की सुरक्षा के लिए एक ख़तरा है? और राजद्रोह के क़ानून और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के बीच भारतीय लोकतंत्र किस तरह का सामंजस्य बनाता है?

राजद्रोह का क़ानून : एक 'औपनिवेशिक निरंतरता'

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और राजद्रोह के क़ानून के बीच हमेशा एक द्वंद्व रहा है। न्यायपालिका के सामने राजद्रोह से जुड़े जितने भी मुक़दमे आये हैं, उनमें यह द्वंद्व साफ़ तौर पर उभरा है। इस लेख में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में न्यायपालिका द्वारा किये गये कुछ

महत्त्वपूर्ण न्यायिक फ़ैसलों के अध्ययन द्वारा इस द्वंद्व की प्रकृति और भारतीय लोकतंत्र के लिए इसके निहितार्थों को समझने का प्रयास किया गया है।[1] साथ ही यह भी देखा गया है कि आख़िर लोकतंत्र के भीतर राजद्रोह के अपराध को किस तरह परिभाषित किया जाता है, लोकतंत्र में इस तरह के क़ानून के औचित्य के पक्ष में किस तरह के तर्क दिये जाते हैं और एक संजीदा लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने के लक्ष्य और राजद्रोह के अपराध के बीच किस तरह के बुनियादी विरोधाभास हैं। लेख के पहले भाग में औपनिवेशिक दौर में राजद्रोह के क़ानून के निर्माण और औपनिवेशिक राजनीति से लोकतांत्रिक संविधानवाद तक की इसकी यात्रा का विश्लेषण किया गया है। दूसरे भाग में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि स्वतंत्रता के बाद के शुरुआती दशकों में किस तरह राष्ट्र-राज्य की प्राथमिकताएँ तय हुईं और इन प्राथमिकताओं का अभिव्यक्ति के अधिकार पर क्या प्रभाव पड़ा। राजद्रोह से जुड़े मुक़दमों के विश्लेषण द्वारा इस पहलू की समझ बनाने का प्रयास किया गया है। तीसरे भाग में राजद्रोह के मुक़दमों के संदर्भ में ही एक परिपक्व होते लोकतंत्र की परेशानियों और अनुक्रियाओं को समझने का प्रयास किया गया है। अंतिम भाग में इस पूरे विश्लेषण के संदर्भ में इस केंद्रीय प्रश्न पर विचार किया गया है कि आख़िर राजद्रोह का अपराध और इसके बदले दण्डित करने वाला राजद्रोह का क़ानून भारतीय लोकतंत्र की कौन सी कहानी बयाँ करता है।

भारतीय लोकतंत्र और संविधान का भारत के औपनिवेशिक इतिहास से गहरा जुड़ाव है। संविधान एक ऐसी अवधारणा है जो मानती है कि राजनीतिक सत्ता का दायरा सीमित होना चाहिए। एक सीमित सरकार की अवधारणा आवश्यक तौर पर उदारतावादी संविधानवाद की देन है।[2] भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के साथ ही उदारतावाद की समझ बननी शुरू हुई थी। इस संकल्पना में राज्य की सत्ता पर अंकुश और व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रमुख स्थान था। असल में इसके तहत व्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को ही राज्य की सत्ता पर एक बड़ा अंकुश माना गया है। यही उदारतावादी संविधानवाद की बुनियादी बात थी। ब्रिटेन की आंतरिक व्यवस्था में यह संकल्पना 'विधि के शासन' की अवधारणा से जुड़ी हुई थी और इसके उभार में ब्रिटेन में स्वतंत्र समाज के प्रचलन की भूमिका थी।[3] अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को इसी प्रचलन की उपज माना गया है।

भारत में औपनिवेशिक शासन के दौरान ब्रिटेन के उदारतावादी समाज ने अपने यहाँ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और राजद्रोह के क़ानून के बीच सामंजस्य बिठाने का प्रयास किया। दूसरी ओर भारत में औपनिवेशिक राजनीति ने उदारतावादी संविधानवाद का प्रारूप तो दिखाया, लेकिन इसने यहाँ के लोगों को प्रत्यक्ष रूप से अधिकार नहीं दिये। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के आंदोलन ने मूल रूप से इन्हीं अधिकारों, जिसमें अभिव्यक्ति का अधिकार भी शामिल है, के लिए संघर्ष किया। उम्मीद यह थी कि भारत के उत्तर-औपनिवेशिक संविधानवाद की प्रकृति रूपांतरकारी[4] होगी और इसमें कहीं ज़्यादा ठोस रूप से स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी दी जाएगी।

---

[1] इस लेख का विस्तार सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के निर्णय तक ही सीमित है. हालाँकि राजद्रोह के मुक़दमों के आकलन का यही एक तरीक़ा नहीं है. कई केस ऐसे भी रहे हैं जो ज़िला अदालतों से आगे नहीं बढ़े. ऐसे भी केस हैं जहाँ सालों की गिरफ़्तारी के बाद भी अभियुक्त पर कोई मुक़दमा नहीं चला है. इन सभी बातों पर ध्यान देते हुए लगता है कि असल में राजद्रोह के क़ानून पर अमल की कहानी कुछ और ही है.

[2] जी. सार्टोरी (1962), 'कॉन्स्टीट्युशनलज़िम : अ प्रिलीमनरी डिस्क्शन', *अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू*, खण्ड 56 : 853-864.

[3] ए.वी. डायसी (1962), *इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ द लॉ ऑफ़ द कॉन्स्टीट्युशन,* मैकमिलन, लंदन : 183-205.

[4] उपेंद्र बख़्शी मानते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक संविधान की प्रकृति परिवर्तनकारी होती है जिसका मक़सद होता है औपनिवेशिक राजनीति को बदलना. इसलिए इसे परिवर्तनकारी संविधानवाद की श्रेणी में रखा जाना चाहिए. देखें, उपेंद्र बख़्शी (2008), *प्रिलिमिनरी नोट्स ऑन ट्रांसफ़ॉरमेटिव कॉन्स्टीट्युशनलिज़म,* बीआईएसए कांफ्रेंस : कोर्टिंग जस्टिस 2, दिल्ली (अप्रैल 27-29).

औपनिवेशिक भारत में राजद्रोह के क़ानून का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल प्रेस की आज़ादी को प्रतिबंधित करने के लिए किया गया। ऐसी हर अभिव्यक्ति जिसमें ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई गयी, उस पर प्रश्न उठाये गये और जिसमें जन गोलबंदी की सामर्थ्य थी— इस क़ानून की चपेट में आयी। स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े बाल गंगाधर तिलक और गाँधी सरीखे कई जन-नेताओं पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया और सज़ाएँ दी गयीं।

औपनिवेशिक सरकार ने 1870 में *भारतीय दण्ड संहिता* (या इण्डियन पीनल कोड या आईपीसी) के माध्यम से भारत में राजद्रोह के प्रावधान की शुरुआत की। आईपीसी की धारा 124ए के तहत राजद्रोह का प्रावधान रखा गया। असल में यह धारा तीन तरह के 'इंग्लिश लॉ' पर आधारित थी। ये तीन क़ानून थे : *ट्रीज़न फेलॅनी ऐक्ट, द कॉमन लॉ विद रिगार्ड टू सिडिशियस लाइबेल* और *द लॉ एज़ टू सिडिशियस वर्ल्ड्स*। 1898 में संशोधन के ज़रिये राजद्रोह के क़ानून को ठोस रूप से परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया। धारा 124ए में ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ 'असंतोष' की भावना जगाने का प्रयास करने वाले व्यक्ति को दण्डित करने का प्रावधान था। 'असंतोष' की भावना का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया कि किसी भी तरह की 'अनिष्ठा' और 'शत्रुता' की भावना भड़काना 'असंतोष' फैलाना है।[5] औपनिवेशिक भारत में राजद्रोह के क़ानून का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल प्रेस की आज़ादी को प्रतिबंधित करने के लिए किया गया। ऐसी हर अभिव्यक्ति जिसमें ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई गयी, उस पर प्रश्न उठाये गये और जिसमें जन गोलबंदी की सामर्थ्य थी— इस क़ानून की चपेट में आयी। स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े बाल गंगाधर तिलक और गाँधी सरीखे कई जन-नेताओं पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया और सज़ाएँ दी गयीं।

स्वतंत्रता से पहले राजद्रोह के क़ानून के इस्तेमाल के कारण संविधान-निर्माण के समय इस बात को लेकर गहरी दुविधा थी कि आज़ादी के बाद बनने वाले संविधान में इस क़ानून की क्या स्थिति होनी चाहिए। इसलिए संविधान सभा में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले नेताओं के ऊपर चले मुक़दमों को ध्यान में रखते हुए इस बात पर तीखी बहस हुई कि राजद्रोह के क़ानून की संविधानवादी दृष्टिकोण में क्या जगह होनी चाहिए।[6] मुख्य दुविधा इस बात पर थी कि एक तरफ़ संविधान में अभिव्यक्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में

---

[5] डब्ल्यू.आर. डोनॉग (1911), *द हिस्ट्री ऐंड लॉ ऑफ़ सिडीशन,* थैसकेल, स्पिंक ऐंड कम्पनी, कलकत्ता : 7.

[6] संविधान के पहले मसविदे के अनुच्छेद 13 में पहले अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर बने 'अपवादों' में राजद्रोह को भी शामिल किया गया था. लेकिन इस क़ानून के औपनिवेशिक इतिहास को देखते हुए इस निर्णय को बदल दिया गया. हालाँकि राजद्रोह के अपराध को भारतीय दण्ड संहिता या आईपीसी से हटाने के मुद्दे पर ऐसा कोई पुनर्विचार नहीं किया गया. देखें, *कॉन्स्टीट्युएंट असेम्बली डिबेट्स,* कॉन्स्टीट्युएंट असेम्बली ऑफ़ इण्डिया, भाग 1, खण्ड 7, 1 और 2 दिसम्बर, 1948. वेब पता : http://parliamentofindia.nic.in/ls/debates/vol|pm.htm; देखने की तारीख़ 3 दिसम्बर. 2012.

रखने का फ़ैसला किया गया, दूसरी ओर इसी अधिकार को सीमित करने के लिए दूसरे संवैधानिक प्रावधान भी तैयार किये जा रहे थे। बहस के दौरान कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी सरीखे कई दिग्गजों ने अभिव्यक्ति की स्वंतत्रता के पक्ष में ज़ोरदार तर्क दिये। उनकी दलीलों के कारण ही संविधान की अभिव्यक्ति के अधिकार पर प्रतिबंध लगाने वाली धारा 19(2) में बदलाव किया गया और राजद्रोह विरोधी क़ानून को स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के अधिकार पर लगे प्रतिबंध के रूप में नहीं स्वीकारा गया। लेकिन राजद्रोह को आईपीसी की धारा 124ए में हूबहू ब्रिटिश लहज़े में राज्य के विरुद्ध अपराध-6 के रूप में क़ानूनी स्वीकृति मिली। धारा 124ए के अनुसार : यदि कोई लिखित या बोले गये शब्दों द्वारा, या संकेतों या स्पष्ट प्रस्तुति द्वारा या किसी अन्य तरीक़े से भारत में क़ानून द्वारा स्थापित सरकार के ख़िलाफ़ नफ़रत या अवमानना फैलाता है, या ऐसा करने की कोशिश करता है, या इसके ख़िलाफ़ असंतोष (डिसअफ़ेक्शन) भड़काता है या भड़काने की कोशिश करता है, तो उसे आजीवन क़ैद की सज़ा दी जाएगी और इसमें जुर्माना भी जोड़ा जा सकता है, या फिर उसे तीन साल की सज़ा दी जा सकती है, जिसमें जुर्माना भी जोड़ा जा सकता है या फिर सिर्फ़ जुर्माना लगाया जा सकता है।

व्याख्या 1 : 'असंतोष' की अभिव्यक्ति में अनिष्ठा (डिस्लॉयलटी) और शत्रुता की हर तरह की भावना शामिल है।

व्याख्या 2 : यदि सरकार की किसी नीति के प्रति इस मक़सद से असम्मति व्यक्त की जाती है और नफ़रत, अवमानना या असंतोष फैलाये या ऐसा करने की कोशिश किये बिना ही क़ानूनी तरीक़े से उसमें बदलाव का प्रस्ताव किया जाता है, तो उसे इस धारा के अंतर्गत अपराध नहीं माना जाएगा।

व्याख्या 3 : यदि सरकार की किसी प्रशासनिक या दूसरी कार्रवाई के ख़िलाफ़ असम्मति व्यक्त की जाती है और ऐसा नफ़रत, अवमानना या असंतोष पैदा किये बग़ैर किया जाता है, या फिर इसके द्वारा इन्हें पैदा करने की कोशिश नहीं की जाती है, तो उसे इस धारा के अंतर्गत अपराध नहीं माना जाएगा।[7]

जाहिर है कि धारा 124ए सरकार के विरुद्ध असंतोष की भावना जगाने वाली हर अभिव्यक्ति को दण्डित करती है, लेकिन इस धारा के स्पष्टीकरण के रूप में यह भी कहा गया है कि अगर सरकार की आलोचना या असम्मति (डिसएप्रोबेशन) या उसकी नीतियों से असम्मति असंतोष की भावना नहीं जगाती है, तो वह अभिव्यक्ति के अधिकार के दायरे में आती है।

राजद्रोह का अपराध एक 'औपनिवेशिक निरंतरता' के रूप में उत्तर-औपनिवेशिक संविधानवाद के तहत एक द्वंद्व का प्रतिनिधित्व करता रहा है। यह द्वंद्व दो प्रकार की अनिवार्यताओं के बीच था। एक ओर लोकतांत्रिक अनिवार्यता थी जिसने नागरिक स्वतंत्रता को महत्त्व दे कर उपनिवेशवाद को पूरी तरह से बदल डाला। दूसरी ओर, रीज़न ऑफ़ स्टेट (या राज्य का तार्किक औचित्य)[8] से उद्भूत नये राज्य की अनिवार्यता थी। इसके पीछे दलील यह थी कि जब राज्य अपने अस्तित्व की चुनौतियों से जूझ रहा हो तब उसे बनाये रखने के लिए किसी भी तरह के बाधारहित उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए। दरअसल, रीज़न ऑफ़ स्टेट की अवधारणा राष्ट्र की सुरक्षा के आयाम से जुड़ी है। जब संविधान सभा ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध के सवाल को ऐक्ट 19(2) के ज़रिये संबोधित किया तो राष्ट्र की सुरक्षा एक बड़ा मुद्दा बन कर उभरी। इस सुरक्षा की कीमत पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता गारंटी नहीं की जा सकती थी। राजद्रोह भले ही संविधान की धारा 19(2) से हटा दिया गया

---

[7] सेक्शन 124ए, *इण्डियन पीनल कोड, बेयर ऐक्ट,* 2012 संस्करण, यूनिवर्सल्स, नयी दिल्ली : 42-43.

[8] यहाँ रीज़न ऑफ़ स्टेट (या राज्य का तार्किक औचित्य) की अवधारणा कार्ल जे. फ्रेड्रिख़ के लेख 'कॉन्स्टीट्युशनल रीज़न ऑफ़ स्टेट, द सर्वाइवल ऑफ़ द कॉन्स्टीट्युशनल ऑर्डर' से ली गयी है. देखें, उज्ज्वल कुमार सिंह (2007), *स्टेट, डेमॉक्रैसी ऐंड एंटी टेरर लॉ इन इण्डिया,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली : 17.

हो, लेकिन इसे राष्ट्रीय सुरक्षा के विरुद्ध सम्भावित अपराध के रूप में देखा जा रहा था। फलस्वरूप संविधान की धारा 19(2) के तहत राजद्रोह का वर्णन न होने के बावजूद यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने की सामर्थ्य रखती थी। इस तरह राजद्रोह का क़ानून रीज़न ऑफ़ स्टेट की अवधारणा रेखांकित करते हुए राष्ट्र-राज्य की सुरक्षा के रूप में राज्य की अनिवार्यता के विमर्श को पुष्ट करता है और अभिव्यक्ति के अधिकार के रूप में चिह्नित लोकतंत्र की अनिवार्यता के विमर्श को लगातार चुनौती देता रहता है।

केवल शब्दों का उच्चारण अपने आप में राजद्रोह नहीं हो सकता। राजद्रोह अपराध तभी साबित किया जा सकता है जब शब्दों में अव्यवस्था लाने की माँग की गयी हो या श्रोताओं के मन में ऐसी मंशा भरने के लिए उन्हें उत्तेजित किया गया हो। इस निर्णय के अनुसार शब्दों के परिणाम के आधार पर यह तय किया जा सकता है कि वे शब्द राजद्रोह की श्रेणी में आते हैं या नहीं। परिणाम के रूप में अव्यवस्था पर ज़ोर था।

नये राष्ट्र-राज्य की प्राथमिकताओं के बीच परिभाषित होता राजद्रोह का अपराध

राजद्रोह से जुड़े दो स्वतंत्रता-पूर्व मुक़दमों ने पहले से ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में राजद्रोह पर छिड़ने वाली बहस की नींव रख दी थी। ये दो मुक़दमे थे : *निहारेंद्र दत्त मजूमदार बनाम द किंग इम्पेरर* (1942) और *किंग इम्पेरर बनाम सदाशिव नारायण भालेराव* (1947)। पहले मुक़दमे में फ़ेडरल कोर्ट (औपनिवेशिक काल में भारत में उच्चतम न्यायलय) ने निर्णय दिया कि केवल शब्दों का उच्चारण अपने आप में राजद्रोह नहीं हो सकता। राजद्रोह अपराध तभी साबित किया जा सकता है जब शब्दों में अव्यवस्था लाने की माँग की गयी हो या श्रोताओं के मन में ऐसी मंशा भरने के लिए उन्हें उत्तेजित किया गया हो।[9] इस निर्णय के अनुसार शब्दों के परिणाम के आधार पर यह तय किया जा सकता है कि वे शब्द राजद्रोह की श्रेणी में आते हैं या नहीं। परिणाम के रूप में अव्यवस्था पर ज़ोर था। अर्थात् कोई भी शब्द/अभिव्यक्ति तभी राजद्रोह मानी जाएगी जब वह अव्यवस्था लाने की कोशिश करे। लेकिन, दूसरे मुक़दमे ने राजद्रोह को एक सीमित परिभाषा में बाँधने के प्रयत्न को उलट दिया। सदाशिव नारायण वाले मामले में प्रिवी कौंसिल ने, जो उस वक़्त राष्ट्रमंडल देशों के लिए अपील की उच्चतम अदालत थी, राजद्रोह की परिभाषा का विस्तार किया। उसने राजद्रोह के बारे में वही औपनिवेशिक दृष्टिकोण क़ायम रखा जो कि बाल गंगाधर तिलक पर चले राजद्रोह के मुक़दमे में देखने को मिला था। यह माना गया कि राजद्रोह का अपराध परिणामों पर आधारित न होकर सिर्फ़ सरकार के ख़िलाफ़ बुरी भावना या असंतोष की भावना जगाने पर आधारित है।[10] इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अव्यवस्था फैलाने की मंशा साबित होना ज़रूरी नहीं है। स्वतंत्र भारत के न्यायिक चिंतन में ये दोनों अदालती निर्णय बार-बार उभरते रहे। बार-बार इस बात पर बहस छिड़ती रही कि लोकतंत्र में राजद्रोह की परिभाषा किस तरह से रखी जाए कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी बनी रहे।

इस मुद्दे पर हुए न्यायिक विमर्श की शुरुआत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का पलड़ा भारी था। 26 मई, 1950 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दो ऐतिहासिक निर्णय दिये गये। इनमें अभिव्यक्ति की

[9] *सिडिशन लॉज़ ऐंड डेथ ऑफ़ फ्री स्पीच इन इण्डिया* (2011), सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूज़न ऐंड इनक्लूसिव पॉलिसी, नैशनल लॉ स्कूल ऑफ़ इण्डिया युनिवर्सिटी, बंगलुरू, और आल्टरनेटिव लॉ फ़ोरम, बंगलुरू, वेब पता : 222.al-tlawforum.org/grassroots-democracy/.../Sedition...pdf/view; देखने की तारीख़ : जुलाई, 2011 : 21.
[10] वही : 21.

स्वतंत्रता के अधिकार की सुरक्षा के लिए राजद्रोह के इल्ज़ाम को ख़ारिज किया गया। पहला मुक़दमा था *रोमेश थापर बनाम स्टेट ऑफ़ मद्रास* और दूसरा मुक़दमा था *ब्रजभूषण और अन्य बनाम द स्टेट ऑफ़ दिल्ली*।

रोमेश थापर मद्रास से निकलने वाली एक वामपंथी पत्रिका *क्रॉस रोड्स* के प्रकाशक और मद्रास में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया (भाकपा) के सदस्य थे। मद्रास सरकार ने भाकपा को ग़ैर-क़ानूनी क़रार देते हुए उस पर प्रतिबंध लगा दिया था। पत्रिका की बढ़ती लोकप्रियता को रोकने के लिए सरकार ने मॉडर्न मेंटेनेंस ऑफ़ पब्लिक ऑर्डर ऐक्ट के तहत इसकी बिक्री पर रोक लगा दी थी। मद्रास उच्च न्यायालय ने इस प्रतिबंध के विरुद्ध रोमेश थापर के हक़ में निर्णय दिया। उसने माना कि राजद्रोह का क़ानून राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा सकता है, पर 'पब्लिक ऑर्डर' (लोक-व्यवस्था) के लिए लगाई गयी पाबंदी राजद्रोह के क़ानून के दायरे से बाहर है।

न्यायालय के इस निर्णय में लोक-व्यवस्था को लेकर सैद्धांतिक विमर्श था। पब्लिक ऑर्डर या लोक-व्यवस्था को लोक-सुरक्षा से जोड़ा गया था। इसका मतलब था जन-सुरक्षा की एक ऐसी अवस्था जो लोक-शांति को दर्शाती हो। इस लिहाज़ से लोक-व्यवस्था के विरुद्ध अपराध आईपीसी के भाग-VIII में आते हैं जिसका संबंध 'लोक-शांति के ख़िलाफ़ अपराध' वाले खण्ड से संबंधित है। इसी तरह, राजद्रोह का अपराध भाग-VI में आता है, 'राज्य के ख़िलाफ़ अपराध' वाले खण्ड से जुड़ा हुआ है।[11] इसलिए लोक-व्यवस्था (पब्लिक ऑर्डर) से जुड़े किसी भी क़ानून के तहत राजद्रोह का अपराध साबित नहीं किया जा सकता। राजद्रोह का अपराध निर्णय के हिसाब से तभी सिद्ध होगा जब राष्ट्रीय सुरक्षा को चुनौती दी गयी हो।

इसी दिन आये दूसरे निर्णय ने भी अभिव्यक्ति के अधिकार को प्राथमिकता दी। ब्रजभूषण और अन्य बनाम द स्टेट ऑफ़ दिल्ली केस में *ऑर्गनाइज़र* नामक एक दक्षिणपंथी पत्रिका पर दिल्ली सरकार ने पूर्व-सेंसरशिप लगाई थी। अर्थात् पत्रिका को अपने प्रकाशन से पहले पूरी सामग्री सरकारी अधिकारियों को दिखानी होती थी। यह सेंसरशिप ईस्ट पंजाब पब्लिक सेफ़्टी ऐक्ट, 1949 के तहत लगाया गया था। पत्रिका पर यह आरोप था कि वह ऐसी सामग्री का प्रकाशन कर रही है जो सार्वजनिक क़ानून और व्यवस्था के ख़िलाफ़ है। इस केस में भी न्यायालय के सामने वही सवाल था— क्या लोक-व्यवस्था राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ख़तरा बन सकती है। इस निर्णय में खुल कर कहा गया कि राजद्रोह का अपराध प्रत्यक्ष तौर पर राष्ट्रीय सुरक्षा के विरुद्ध है पर लोक-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं। लेकिन अगर लोक-अव्यवस्था पर अंकुश न लगाया गया तो यह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ख़तरा बन सकती है। इस लिहाज़ से राजद्रोह का अपराध अप्रत्यक्ष तौर पर लोक-व्यवस्था के विरुद्ध भी साबित हुआ।[12] लेकिन राजद्रोह का मुक़दमा ख़ारिज कर दिया गया क्योंकि न्यायालय ने राजद्रोह की परिभाषा 1942 के निहारेंद्र दत्त मजूमदार केस से ली थी। यानी जब तक किसी अभिव्यक्ति में लोक-व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम करने या लोगों को उत्तेजित करने की प्रवृत्ति न हो, उसे राजद्रोह नहीं कहा जा सकता। अदालत ने माना कि पत्रिका में प्रकाशित लेखों में इस तरह की स्थिति पैदा करने की कोई कोशिश नहीं की गयी। इन दोनों निर्णयों ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर एक सकारात्मक रवैया अपनाया। राजद्रोह को राष्ट्रीय सुरक्षा और लोक-व्यवस्था के ख़िलाफ़ अपराध की श्रेणी में रखा गया, पर लोक-व्यवस्था (पब्लिक ऑर्डर) और राष्ट्रीय सुरक्षा का सिद्धांतीकरण करते हुए सीमित परिभाषा

---

[11] *रोमेश थापर बनाम द स्टेट ऑफ़ मद्रास ऑन 26 मई, 1950,* एआईआर 124, 1950 एससीआर 594.

[12] *ब्रजभूषण ऐंड अदर्स बनाम द स्टेट ऑफ़ दिल्ली ऑन 26 मई, 1950,* एआईआर 129, 1950 एससीआर 605.

देने की कोशिश की गयी कि किस तरह की अभिव्यक्ति को राजद्रोह की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इन दोनों निर्णयों ने सरकार के समक्ष चुनौती पेश की। जहाँ एक ओर स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति पर लगे प्रतिबंधों से जुड़े सभी मुद्दों पर आख़िरी फ़ैसला न्यायपालिका कर रही थी, वहीं दूसरी ओर नेहरू सरकार की, राजद्रोह के क़ानून को संविधानवाद में जगह देने और अभिव्यक्ति की आज़ादी को प्रतिबंधित करने के कारण, कड़ी आलोचना हो रही थी। इसी पृष्ठभूमि ने संविधान के पहले संशोधन की नींव रखी। अनुच्छेद 19(2) में संशोधन के ज़रिये दो नये प्रतिबंध जोड़े गये— लोक व्यवस्था और मित्र राज्यों से संबंध। इसके अलावा प्रतिबंध के आगे 'रीज़नेबल' (युक्ति-युक्त) शब्द भी जोड़ा गया।[13] यह शब्द लगाने का अर्थ था अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित होने से रोकना। दूसरी ओर, लोक-व्यवस्था को प्रतिबंध की श्रेणी में रखने का अर्थ था अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित करने के लिए कुछ और वैध क़ानूनी हथकंडों का विकास।

नेहरू सरकार की, राजद्रोह के क़ानून को संविधानवाद में जगह देने और अभिव्यक्ति की आज़ादी को प्रतिबंधित करने के कारण, कड़ी आलोचना हो रही थी। इसी पृष्ठभूमि ने संविधान के पहले संशोधन की नींव रखी। अनुच्छेद 19(2) में संशोधन के ज़रिये दो नये प्रतिबंध जोड़े गये— लोक व्यवस्था और मित्र राज्यों से संबंध। इसके अलावा प्रतिबंध के आगे 'रीज़नेबल' (युक्ति-युक्त) शब्द भी जोड़ा गया। यह शब्द लगाने का अर्थ था अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित होने से रोकना।

जल्दी ही 1953 के मुक़दमे *देवी सोरेन बनाम द स्टेट* में इसका परिणाम देखने को मिला। बिहार के भागलपुर ज़िले के इस केस में देवी सोरेन और उनके दो साथियों पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया था। पटना उच्च न्यायालय ने सुनवाई करते हुए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वरीयता दी और राजद्रोह के आरोप को असंवैधानिक माना। इस निर्णय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि 'लोक-व्यवस्था' के नये प्रतिबंध के संदर्भ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर विचार किया गया। इस केस में तीनों अभियुक्तों पर एक भाषण के ज़रिये बिहार सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष और तिरस्कार की भावना फैलाने का अभियोग था। लेकिन अदालत ने केवल इस आधार पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाने की इजाज़त नहीं दी।

असल में, इस केस में दिया गया निर्णय एक गुत्थी से कम नहीं था। इस निर्णय ने सदाशिव नारायण भालेकर वाले फ़ैसले से राजद्रोह की परिभाषा लेते हुए यह माना कि केवल असंतोष की भावना जगाना मात्र ही राजद्रोह है। उसने यह भी स्वीकार किया कि आईपीसी की धारा 124ए के माध्यम से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करना संवैधानिक रूप से वैध है। लेकिन दूसरी ओर अदालत ने अभियुक्तों को राजद्रोह के आरोप से बरी कर दिया। अदालत ने रेखांकित किया कि राजद्रोह को परिभाषित करते समय और राजद्रोह का आरोप लगाते समय अभिव्यक्ति की प्रकृति को समझना आवश्यक है। इस निर्णय ने राजद्रोह को परिभाषित करने के दो मापदण्ड रखे— पहला अभिव्यक्ति पर हमेशा समग्रता में विचार करना चाहिए और दूसरा राजद्रोह की मंशा को केवल अभिव्यक्ति की भाषा पर ही आधारित किया जाना चाहिए।[14] अर्थात् भाषण को पूरी समग्रता में और उसकी मंशा को उसकी भाषा में समझते हुए राजद्रोह

---

[13] ग्रेनविले ऑस्टिन (1999), *वर्किंग ऑफ़ अ डेमॉक्रैटिक कॉन्स्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 41.

[14] *देवी सोरेन ऐंड अदर्स बनाम द स्टेट ऑन 24 सितम्बर 1953,* बीएलजेआर 99.

के कानूनी प्रावधान का उपयोग किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में समय की पृष्ठभूमि आदि को आधार नहीं बनाया जाना चाहिए। अदालत ने अपने फ़ैसले में स्पष्ट रूप से यह कहा कि भाषण में बिहार सरकार की कड़ी आलोचना करते हुए अलग राज्य झारखण्ड की माँग की गयी है। यह आलोचना आईपीसी की धारा 124ए के दायरे में नहीं आती है और राज्य के विभाजन की माँग भी संवैधानिक है। इसलिए इस मुक़दमे में धारा 124ए का प्रयोग पूरी तरह ग़लत है।

बहरहाल, इस सकारात्मक निर्णय के बावजूद इस बात पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है कि संविधान के पहले संशोधन का अभिव्यक्ति की आज़ादी पर क्या प्रभाव पड़ा। असल में, इस संशोधन के ज़रिये अभिव्यक्ति की आज़ादी की सीमा के रूप में 'पब्लिक ऑर्डर' (या लोक-व्यवस्था) श्रेणी जोड़े जाने के कारण राजद्रोह के अपराध का दायरा काफ़ी विस्तृत हो गया। अब राजद्रोह प्रत्यक्ष रूप से लोक-व्यवस्था के विरुद्ध एक अपराध बन गया।

पचास के दशक में राजद्रोह के कई मुक़दमे सामने आये। इनमें से तक़रीबन सभी मामलों में न्यायपालिका का फ़ैसला अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में रहा और राजद्रोह की क़ानूनी धारा के प्रयोग को ख़ारिज कर दिया गया। 1958 में *रामनंदन बनाम राज्य* के मुक़दमे में पहली बार विस्तृत और दृढ़ रूप से राजद्रोह के क़ानून की आलोचना की गयी। रामनंदन एक वामपंथी थे जिन्हें उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले में एक स्थानीय वामपंथी दल बोल्शेविक पार्टी की बैठक में आपत्तिजनक भाषण देने के आरोप में गिरफ़्तार करके आईपीसी की धारा 124ए के तहत राजद्रोह का मुक़दमा दर्ज़ किया गया था। आरोप था कि उन्होंने दो सौ लोगों की भीड़ में अपने भाषण के ज़रिये लोगों को यूपी सरकार के ख़िलाफ़ भड़काने की कोशिश की। सुनवाई करते हुए इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की प्राथमिक स्थिति को स्वीकार किया। न्यायाधीश ने कहा, 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंध भले ही ज़रूरी हों, पर उन्हें इतना विस्तृत भी नहीं कर देना चाहिए कि प्रतिबंध स्वतंत्रता को ही निगल जाएँ।'[15]

इस निर्णय ने एक बार फिर लोक-व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और राजद्रोह के बीच बनने वाले समीकरण पर प्रकाश डालते हुए स्थापित किया कि किसी अभिव्यक्ति को सिर्फ़ इसलिए लोक-व्यवस्था के लिए चुनौती नहीं माना जा सकता है कि उसमें सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष की भावना है। लोक-व्यवस्था को ख़तरा एक 'शारीरिक कार्रवाई' (फ़िजिकल ऐक्ट) से पैदा होता है जो कि असंतोष की भावना का परिणाम हो भी सकता है और नहीं भी। असल में, राजद्रोह का क़ानून लोक-व्यवस्था के नाम पर किसी अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध नहीं लगा सकता। असल में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि असंतोष की भावना ने ऐसे किसी कार्य को अंजाम दिया है जिससे लोक-व्यवस्था को ख़तरा हो। इस निर्णय में यह माना गया कि असंतोष की भावना उत्तेजित करना और लोक-व्यवस्था के लिए उकसाना दो अलग-अलग चीज़ें है। इस निर्णय के हिसाब से आईपीसी की 124ए के क़ानून के तहत अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगाना असंवैधानिक होगा क्योंकि 124ए किसी भी अभिव्यक्ति को दण्डित करने का प्रावधान करती है, जिसमें सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष जगाने की भावना है। जबकि, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर संवैधानिक प्रतिबंध तभी लगाया जा सकता है जब लोक-व्यवस्था या राष्ट्रीय सुरक्षा पर ख़तरा हो।

यह निर्णय इसलिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें मूल रूप से सरकार की सुरक्षा और राष्ट्र या राज्य की सुरक्षा के बीच का अंतर स्पष्ट किया गया था। सरकार का अर्थ माना गया (संविधान के अनुच्छेद 12 के अनुसार) सरकार की पूरी प्रणाली न कि सत्ताधारी व्यक्ति। इसका अर्थ था कि

---

[15] *रामनंदन बनाम स्टेट, एआईआर 1959.* एआईआई 101. 1959, सीआरआईएलजे 1.

यदि एक सत्ताधारी/सरकारी पद पर विद्यमान व्यक्ति निष्कासित भी कर दिया जाए तो सरकार की प्रणाली चलती रहती है। इस निर्णय के अनुसार सरकार का कोई भी व्यक्ति चाहे वह प्रधानमंत्री ही क्यों न हो, के ख़िलाफ़ असंतोष की भावना पूरे सरकार की प्रणाली के ख़िलाफ़ असंतोष नहीं व्यक्त करती। इसलिए सरकारी पद पर स्थित लोगों के विरुद्ध असंतोष जगाने की भावना पूरे राज्य पर ख़तरा नहीं बन सकती। राज्य को ख़तरा तब है जब पूरी सरकारी प्रणाली पर ख़तरा हो। राजद्रोह का क़ानून औपनिवेशिक दौर में बनाया गया था। उस समय हर व्यक्ति विशेष जो कि औपनिवेशिक सरकार का अंग था, उसकी सुरक्षा हेतु किसी भी तरह की असंतोष की भावना को दण्डित किया जाता था। लेकिन लोकतंत्र में सरकार को किसी व्यक्ति विशेष के साथ चिह्नित नहीं किया जाना चाहिए।

इस निर्णय ने यह साफ़ कर दिया कि राजद्रोह के क़ानून के माध्यम से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाना तब तक असंवैधानिक है, जब तक वास्तव में लोक-व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा पर कोई ख़तरा न हो। लेकिन राजद्रोह का क़ानून ऐसी अभिव्यक्तियों को भी दण्डित करता है जो लोक-व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कोई ख़तरा पैदा नहीं करती, पर सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह की भावना भड़काती हैं। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि विद्रोह की भावना भड़काने वाली अभिव्यक्ति से वास्तव में लोक-व्यवस्था या राष्ट्रीय सुरक्षा पर कोई ख़तरा है या नहीं। इस लिहाज़ से राजद्रोह के क़ानून के माध्यम से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबंदी लगाना असंवैधानिक है। इस निर्णय ने लोकतंत्र में राजद्रोह के क़ानून अर्थात् आईपीसी की धारा 124ए के औचित्य पर सवालिया निशाना लगाया था। स्पष्ट था कि केवल असंतोष की भावना के आधार पर अभिव्यक्ति पर अंकुश नहीं होना चाहिए, बल्कि इसका आधार लोक-व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा पर वास्तविक ख़तरा होना चाहिए।

एक तरफ़ पचास का दशक ऐसे प्रगतिशील निर्णयों का रहा जिनमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की अनिवार्यता का सम्मान किया गया, वहीं 1962 में बिहार उच्च न्यायालय का बेहद महत्त्वपूर्ण निर्णय आया जिसमें कुछ विरोधाभासी निहितार्थ थे। इस निर्णय ने आईपीसी की धारा 124ए को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के मामले में संवैधानिक वैधता दिलाई, और साथ ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए 124ए के दायरे को सीमित भी किया। यह मुक़दमा था— केदारनाथ सिंह बनाम बिहार सरकार। इस पर निर्णय लेते हुए उच्च न्यायालय ने रामनंदन केस के निर्णय को पलट दिया। फ़ॉरवर्ड कम्युनिस्ट ब्लॉक के सदस्य केदारनाथ सिंह बिहार सरकार के कड़े आलोचक थे। उन पर धारा 124ए के तहत आरोप था कि उन्होंने अपने एक भाषण के ज़रिये विद्रोह भड़काने की कोशिश की है। पटना उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि सरकार की आलोचना चाहे कितने ही कट्टर शब्दों में की गयी हो, राजद्रोह के दायरे से बाहर होती है। लेकिन अगर अभिव्यक्ति में असंतोष जगाने की भावना है तो वह अभिव्यक्ति राजद्रोह के दायरे में आती है। लेकिन यह तय करते हुए निर्णय ने 'असंतोष की भावना' को सीमित रूप से परिभाषित करते हुए ऐसी अभिव्यक्ति क़रार दिया जो असंतोष की भावना उत्तेजित कर हिंसा की प्रवृत्ति को जन्म दे सकती हो। ऐसी सूरत में असंतोष की भावना प्रत्यक्ष रूप से लोक-व्यवस्था को चुनौती दे सकती है।[16] यह असंतोष की भावना की संकीर्ण समझ थी जिसके तहत धारा 124ए के तहत संवैधानिक वैधता के साथ उन अभिव्यक्तियों को दण्डित किया जा सकता था जो असंतोष की भावना उकसाने के ज़रिये हिंसा की प्रवृत्ति को जन्म देती हों। अभी तक न्यायपालिका ने यह दृष्टिकोण रखा था कि अगर असंतोष की

---

[16] *केदारनाथ सिंह बनाम द स्टेट ऑफ़ बिहार, ऑन 20 जनवरी 1962* . एआईआर 955, 1962 एससीआर सेप्लिमेंटरी (2) 769.

भावना हिंसा या लोक-व्यवस्था को उकसाती तो उसे वो राजद्रोह की श्रेणी में रखा जा सकता है। लेकिन केदारनाथ सिंह वाले निर्णय में कहा गया कि असंतोष की भावना में ही हिंसा पैदा करने की मंशा निहित होती है। अगर असंतोष की भावना में हिंसा पैदा करने की मंशा नहीं है तो वह असंतोष की भावना नहीं मानी जाएगी और इसलिए उसे राजद्रोह भी नहीं माना जाएगा। इन मापदण्डों पर सर्वोच्च न्यायालय ने केदारनाथ को राजद्रोह का दोषी पाया क्योंकि उन्होंने अपने भाषण में क्रांति जैसी गतिविधियों के लिए लोगों को प्रेरित करने का प्रयत्न किया था। अदालत ने माना कि आम लोगों की समझ में क्रांति हिंसा से जुड़ी हुई है और संविधान क्रांति का अधिकार प्रदान नहीं करता, इसलिए इस अभिव्यक्ति में हिंसा भड़काने वाली असंतोष की भावना विद्यमान है। इस निर्णय ने एक बार फिर लोक-व्यवस्था और राष्ट्र-राज्य की सुरक्षा के बीच का संबंध स्पष्ट करते हुए स्वीकार किया कि लोक-व्यवस्था राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ख़तरा बन सकती है और राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ किसी तरह का समझौता नहीं किया जा सकता। यह निर्णय एक बार फिर लोकतंत्र की अनिवार्यता और राज्य की अनिवार्यता के बीच द्वंद्व को दर्शाता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसा लोकतांत्रिक अधिकार आवश्यक है, पर तभी तक जब तक कि वह राज्य की अनिवार्यता पर सवाल न उठाये।

राज्य की अनिवार्यता के इस विमर्श को आने वाले वर्षों में और ज़्यादा प्रमुखता मिली। इसका एक प्रमुख उदाहरण यह है कि 1963 में संविधान के अनुच्छेद 19 में एक और संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 19(2) में एक और वाक्य जोड़ा गया— 'भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता के हित में।'[17] इसका अर्थ यह था कि भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता की सुरक्षा के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं। यह संशोधन इस बात का प्रमाण था कि राज्य की अनिवार्यता का विमर्श लोकतंत्र की अनिवार्यता के विमर्श पर हावी हो रहा है।

राजद्रोह के गलियारे और लोकतंत्र की परिपक्वता

साठ के दशक के अंत तक और सत्तर के दशक की शुरुआत में राजनीतिक समीकरण काफ़ी बदल चुके थे। एक पार्टी का वर्चस्व दम तोड़ रहा था और कई क्षेत्रीय पार्टियाँ उभार पर थीं। इस दौर में कम्युनिस्ट आंदोलन कांग्रेस सरकार के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन कर उभरा। ऐसे में, राज्य-हित के नाम पर, राजनीतिक असहमति के विरोध में राजद्रोह निरोधक क़ानून का ख़ूब प्रयोग किया गया। इस संदर्भ में 1971 में गुजरात उच्च न्यायालय में लाया गया राजद्रोह का एक मुक़दमा राज्य के रवैये को रेखांकित करता है। यह था मनुभाई त्रिभुवन दास पटेल वग़ैरह बनाम गुजरात और अन्य। गुजरात सरकार ने *एब्सट्रैक्ट्स फ्रॉम माओ-त्से-तुंग* नामक एक किताब ज़ब्त करके आरोप लगाया कि इन किताबों में राजद्रोही तत्व हैं। उसने पुस्तक के प्रकाशकों पर आईपीसी की धारा 124ए लगाई जिसके तहत किसी भी ऐसी किताब का प्रकाशन दण्डनीय माना जाता है जिसमें राजद्रोही तत्व हों।[18] प्रकाशकों पर आरोप था कि उनके द्वारा प्रकाशित किताब में उन लोगों के लिए द्वेष और तिरस्कार का भाव है जो कम्युनिस्ट विचारधारा नहीं मानते। साथ ही, इस किताब में एक ग़ैर-कम्युनिस्ट सरकार को हिंसक तरीक़ों से गिराने और हिंसक क्रांति द्वारा कम्युनिस्ट सरकार को स्थापित करने के तरीक़े बताये गये हैं। न्यायालय ने अपने निर्णय में इस आरोप को वैध मानने से इनकार कर दिया। उसने केदारनाथ सिंह वाले निर्णय को उद्धृत किया कि असंतोष फैलाने का आरोप तभी मान्य होता है जब असंतोष की भावना में हिंसा करने या लोक-अव्यवस्था लाने की मंशा या उसे बढ़ावा देने की भावना हो। अदालत

[17] सोलहवें संशोधन से जुड़ी बहस के लिए देखें, ऑस्टिन (1999) : 50-53.

[18] *मनुभाई त्रिभुवन दास पटेल ऐंड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ़ गुजरात ऐंड अनदर, ऑन 28 सितम्बर 1971.* सीआरआईएलजे 388, (1971), जीएलआर 968.

ने कहा कि कम्युनिस्ट/माओवादी विचारधारा का प्रचार करना किताब की मंशा हो सकती है। लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि इस विचारधारा का प्रचार एक हिंसक क्रांति के लिए किया गया हो। इस निर्णय में भी राज्य और लोकतंत्र की अनिवार्यता के द्वंद्व में राज्य को प्राथमिकता दी गयी। इसमें यह कहा गया कि केवल एक सुरक्षित राज्य ही स्वतंत्रता के लोकतांत्रिक अधिकार की गारंटी दे सकता है। दूसरी ओर इस निर्णय में राज्य की सुरक्षा और सरकार की सुरक्षा में स्पष्ट अंतर करने की कोशिश भी की गयी। निर्णय ने माना कि अक्सर सरकार की बेचैनी का असर लोगों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पड़ता है। यह कथन कई बातों को सामने लाता है। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा की अपरिहार्यता पर सवाल उठाते हुए रेखांकित किया गया कि किस तरह राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर सरकार के हित को बढ़ावा दिया जाता है।

सतही तौर पर लग सकता है कि न्यायिक विमर्श में राजद्रोह की परिभाषा सीमित कर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी देने की कोशिश की गयी है। लेकिन यह बात पूरी न्यायपालिका के बारे में नहीं कही जा सकती। 1976 में दिया गया आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय का निर्णय इसी भिन्नता को दिखाता है। सत्तर का दशक भारत के लोकतांत्रिक इतिहास का सबसे संघर्षमय काल साबित हुआ। 1975 में लगे आपातकाल ने लोकतांत्रिक अधिकारों का अभूतपूर्व दमन किया। प्रेस पर बेमिसाल सेंसर लगाया गया। आंध्र प्रदेश से निकलने वाली पत्रिका *सृजना* को भी इसका शिकार होना पड़ा। वरिष्ठ नक्सली नेता वरवर राव की यह पत्रिका अपनी राज्य-विरोधी विचारधारा की वजह से राज्य के लिए बड़ी चुनौती बन चुकी थी। वरवर राव की पत्नी इस पत्रिका की सम्पादक थीं। 1976 में उन पर राजद्रोह का मुक़दमा चला।

वरिष्ठ नक्सली नेता वरवर राव की यह पत्रिका अपनी राज्य-विरोधी विचारधारा की वजह से राज्य के लिए बड़ी चुनौती बन चुकी थी।... कम्युनिस्ट विचारधारा सीधे तौर पर राज्य और सरकार को चुनौती दे रही थी, वहाँ राज्य की अनिवार्यता के विमर्श को सर्वव्यापी मानते हुए अदालत ने असंतोष की भावना को ज़्यादा विस्तृत रूप से परिभाषित किया। यह माना गया कि असंतोष की भावना जगाना मात्र ही राजद्रोह है।

इस निर्णय में एक बात खुल कर सामने आयी कि राष्ट्रीय सुरक्षा और लोक-व्यवस्था जैसे निर्धारकों के लिहाज़ से राज्य की अनिवार्यता के आगे लोकतंत्र की अनिवार्यता उस समय ज़्यादा दुर्बल हो जाती है जब चुनौती का विषय प्रत्यक्ष रूप से राज्य विरोधी हो। इस संदर्भ में जहाँ कम्युनिस्ट विचारधारा सीधे तौर पर राज्य और सरकार को चुनौती दे रही थी, वहाँ राज्य की अनिवार्यता के विमर्श को सर्वव्यापी मानते हुए अदालत ने असंतोष की भावना को ज़्यादा विस्तृत रूप से परिभाषित किया। यह माना गया कि असंतोष की भावना जगाना मात्र ही राजद्रोह है और असंतोष की भावना जगाने का अपराध इस बात पर निर्भर नहीं है कि वाक़ई हिंसा भड़काने या लोक व्यवस्था को नुक़सान पहुँचाने की भावना है या नहीं।[19] *सृजना* में छपी एक कविता को धारा 124ए के तहत दण्डनीय क़रार दिया गया। इस कविता में सामंतवाद के ख़िलाफ़ किसानों को संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया गया था और दमनकारी सरकार को हिंसक क्रांति से हटाने की अपील की गयी थी।[20] ग़ौरतलब है कि इस कविता को *सृजना* के मई 1974 अंक में छापा गया था और इसके

---

[19] इस निर्णय ने 1942 के निहारेंद्र नाथ केस और 1962 के केदारनाथ सिंह केस में दी गयी राजद्रोह की सीमित परिभाषा को पलट दिया. इसने राजद्रोह की वह परिभाषा अपनाई जो औपनिवेशिक काल में बाल गंगाधर तिलक जैसे राष्ट्रवादियों को दण्डित करते समय दी गयी थी.

[20] *पी. हेमलता बनाम द गवर्नमेंट ऑफ़ आंध्र प्रदेश ऑन 23 अप्रैल, 1976.* एआईआर 1976 एपी 375.

सम्पादक पर 1976 में मुक़दमा चलाया गया। इस दौरान इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि इस कविता में जगाई गयी विद्रोह की भावना ने किसी ऐसी भौतिक (फ़िज़िकल) गतिविधि को अंजाम दिया हो जिससे हिंसा भड़की हो। इस निर्णय ने साफ़ तौर पर माना कि राज्य की सुरक्षा सरकार की सुरक्षा पर ही आधारित है और एक सुरक्षित सरकार ही एक स्थायी समाज और राज्य स्थापित कर सकती है। इसलिए अभिव्यक्ति का लोकतांत्रिक अधिकार अगर इस अनिवार्यता से टकराएगा तो उसकी आहुति दी जा सकती है।

आपातकाल के दौरान और उसके बाद की राजनीतिक अवधि में जहाँ एक ओर नागरिक स्वतंत्रता आंदोलन संगठित हो रहे थे और लोकतंत्र में राजनीतिक असहमति की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जा रहा था, वहीं अस्सी के दशक में कांग्रेस के दोबारा सत्ता में आने के बाद राजनीतिक हिंसा का एक निरंकुश रूप देखने को मिला। ऑपरेशन ब्लू स्टार और सिख अंगरक्षकों द्वारा इंदिरा गाँधी की हत्या ने सिख समुदाय को एक 'संदिग्ध समुदाय' की श्रेणी में ला खड़ा किया था। इस मानसिकता ने दमनकारी क़ानूनों का रुख भी इसी ओर मोड़ दिया। आईपीसी की धारा 124ए जैसे क़ानून अनायास ही राज्य और सरकार की संदिग्ध मानसिकता को संचालित करने लगे। 1986 में भारत-नेपाल की सीमा पर पाँच सिखों को इसी संदेह के आधार पर गिरफ़्तार किया गया। यह था रघुवीर सिंह और अन्य बनाम बिहार राज्य। यह केस अपने आप में राजद्रोह की परिभाषा पर विमर्श की वजह से नहीं, पर किन्हीं दो अलग कारणों से महत्त्वपूर्ण है। पहला तो यह कि इसमें धारा 124ए क़ानूनों का लक्षित इस्तेमाल सामने आता है। दूसरा था 124ए या राजद्रोह के क़ानून को लेकर एक नया चलन शुरू होना। यह चलन था एकाधिक आरोप लगाने का चलन। आगे चलकर इसका बहुत ज़्यादा प्रयोग किया जाने लगा।[21] आईपीसी की धारा 124ए के साथ आईपीसी की कई और धाराएँ इस्तेमाल की जाने लगीं। ख़ासतौर पर युद्ध छेड़ने (आईपीसी की धारा 121), आपराधिक षड्यंत्र (धारा 120ए) और लोगों के विभिन्न समूहों के बीच दुश्मनी बढ़ाने (धारा 153ए) की धाराएँ 124ए के साथ जोड़ी जाने लगीं। ऐसा करने के पीछे मुख्य मक़सद यह था कि आरोपी की सजा की अवधि बढ़ जाए और उसे आसानी से ज़मानत न मिले। इस संदर्भ में 1997 का बिलाल अहमद कालू बनाम आंध्र प्रदेश का केस देखा जा सकता है। इसकी सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय में हुई। बिलाल एक कश्मीरी युवक थे जिन्हें टाडा के तहत केद्राबल में हुए एक बम विस्फोट के सिलसिले में गिरफ़्तार किया गया था। टाडा की अदालत से बरी होने के बाद भी उन पर आईपीसी की धारा 124ए, 153ए और 505 (2)[22] और *आर्म्स ऐक्ट* के तहत मुक़दमा चलता रहा।

सर्वोच्च न्यायालय ने राजद्रोह की परिभाषा केदारनाथ केस से ली। इसके अनुसार जब तक अभिव्यक्ति के कारण पैदा हुआ असंतोष हिंसा की मंशा न जगाये तब तक यह 124ए के दायरे में नहीं आती। बिलाल पर यह कहने का आरोप था, 'भारतीय सेना के सदस्य कश्मीरी युवकों के ख़िलाफ़ अत्याचार कर रहे हैं।'[23] सर्वोच्च न्यायालय ने इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा कि इस कथन में एक तथ्य बताने की कोशिश की गयी है और हिंसा भड़काने का कोई प्रयास नहीं है। न्यायालय के निर्णय में सरकार की प्रणाली और उसके एक अंग के बीच का भेद स्पष्ट था। सेना के सदस्य भारत सरकार की प्रणाली का प्रतिनिधित्व नहीं करते, इसलिए सेना के विरुद्ध इस्तेमाल किये गये शब्द आवश्यक रूप से राज्य या सरकार की प्रणाली के विरुद्ध राजद्रोह की श्रेणी में नहीं आते। बिलाल

---

[21] *रघुबीर सिंह ऐंड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ़ बिहार ऑन 19 सितम्बर 1986.* एआईआर 149, 1986 एससीआर (3) 802.

[22] अनुच्छेद 505(2), इण्डियन पीनल कोड; इसमें ऐसे बयानों या कथनों के लिए सज़ा का प्रावधान है जो वर्गों के बीच शत्रुता, नफ़रत और वैमनस्य को बढ़वा देते हैं.

[23] *बिलाल अहमद क़ालू बनाम स्टेट ऑफ़ आंध्र प्रदेश ऑन 6 अगस्त 1997.* एआईआर 1997, एससी 3483.

और अन्य लोगों पर आईपीसी की धाराओं के तहत अपराध साबित नहीं हुए और उन्हें सिर्फ़ आर्म्स ऐक्ट के तहत दोषी पाया गया।

सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय इस बात को भी रेखांकित करता है कि सरकार अपने मंसूबों को पूरा करने के लिए राजद्रोह निरोधक क़ानूनों का प्रयोग कर रही थी। सरकार कई बार ऐसे लोगों को सुरक्षा के लिए ख़तरे के रूप में पेश करती है जो या तो सरकार के ख़िलाफ़ विरोध प्रकट कर रहे होते हैं या जो पहले से ही समाज की नज़र में अवैध होते हैं। बिलाल जैसों की सामाजिक वैधता पर टाडा जैसे आतंक निरोधक क़ानून के तहत आरोपग्रस्त होने के कारण सवालिया निशान लग चुका होता है। ऐसी सूरत में सरकार पर इन्हें 'दोषी' साबित करने का दबाव रहता है और बिलाल जैसे लोग बनावटी आरोपों के शिकार होते हैं। इसीलिए आईपीसी की धारा 124ए के इस्तेमाल में बढ़ोतरी हुई है। सर्वोच्च न्यायालय ने ख़ुद एक कथन में इस बात की पुष्टि की। न्यायाधीश ने कहा कि जिस तरह बिलाल पर आईपीसी की धारा 153ए, 124ए और 505 (2) के तहत आरोप लगाये गये थे, वह निचली अदालत के बेहद लापरवाह रवैये को दिखाता है।[24] कोर्ट का कहना था कि राजद्रोह जैसे क़ानून को लेकर ऐसी लापरवाही नागरिकों की स्वतंत्रता के लिए ख़तरा हो सकती है।

हालाँकि सरकार का रवैया सर्वोच्च न्यायालय की इस टिप्पणी के विपरीत ही रहा है। राजद्रोह से जुड़े इक्कीसवीं सदी के दो सर्वाधिक चर्चित मुक़दमे इसी रवैये को दर्शाते हैं। ये हैं धारा 124ए के तहत बिनायक सेन और सीमा आजाद पर चले मुक़दमे। ये दोनों ही केस माओवादी आंदोलन की बढ़ती सक्रियता और उसे लेकर राज्य की बढ़ती असुरक्षा की भावना रेखांकित करते हैं। ये दोनों मुक़दमे इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये न्यायिक विमर्श के ज़रिये न्यायपालिका की एक एकीकृत छवि भंग करते हुए इस संस्था के भीतर स्थित द्वंद्व उजागर करते हैं जिनकी बुनियाद में राष्ट्रीय सुरक्षा, संविधानवाद और लोकतांत्रिक अधिकार के बारे में अलग-अलग समझ है।

बिनायक सेन एक डॉक्टर हैं। आधिकारिक तौर पर छत्तीसगढ़ राज्य के निर्माण के बाद इन्हें स्वास्थ्य सेवा संबंधी सुधारों पर विचार करने वाले सलाहकार समूह का सदस्य चुना गया। इसके साथ ही वे मानवाधिकार आंदोलन के जागरूक प्रचारक और पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज के सक्रिय कार्यकर्ता भी रहे हैं। उन्हें छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा माओवादियों के ख़िलाफ़ अपनाई गयी सलवा जुडूम[25] जैसे अभियान की तीखी आलोचना के लिए जाना जाता है। बिनायक सेन द्वारा सरकार की नीतियों की लगातार आलोचना से ही उनके ख़िलाफ़ राजद्रोह के आरोप की पृष्ठभूमि तैयार हुई। छत्तीसगढ़ पुलिस ने उन्हें 2007 में गिरफ़्तार किया और फिर दो साल बाद ज़मानत पर रिहा कर दिया। 2010 में छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय ने बिनायक सेन को राजद्रोह का दोषी पाया। अदालत का कहना था कि सेन ने अभिव्यक्ति के अधिकार में निहित आलोचना की आज़ादी की सीमा का उल्लंघन किया

---

[24] वही.

[25] 2005 के मध्य में कांग्रेसी नेता महेंद्र कर्मा की पहल पर छत्तीसगढ़ के दंतेवाड़ा ज़िले में माओवादियों के ख़िलाफ़ सशस्त्र अभियान शुरू किया गया. इसे सलवा जुडूम नाम दिया गया. इस अभियान को छत्तीसगढ़ सरकार का भी पूरा समर्थन था. इसके तहत आदिवासियों के एक समूह को हथियार देकर उन गाँवों में अभियान चलाने का काम दिया गया जिनके बारे में माना जाता था कि वहाँ माओवादियों का प्रभुत्व है. सलवा जुडूम के कारण इस क्षेत्र में जम कर हिंसा हुई और सर्वोच्च न्यायालय ने 2011 में उसे असंवैधानिक घोषित किया. सलवा जुडूम के विभिन्न पहलुओं की जानकारी के लिए देखें, नंदिनी सुंदर (2007), *सबॉल्टर्न ऐंड सॉवरेन्स : ऐन एंथ्रोपोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; पीयूडीआर और अन्य (2006), *व्हेयर स्टेट मेक्स वॉर ऑन इट्स ऑन पीपुल : अ रिपोर्ट ऑन वायलेशन ऑफ़ पीपुल्स राइट्स ड्युरिंग द सलवा जुडूम कैम्पेन ऑफ़ दंतेवाड़ा, छत्तीसगढ़*, दिल्ली, अप्रैल; *सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़*, (2011), *नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला* (अनु : कमल नयन चौबे), जुलाई.

अदालत ने कहा कि ... सिर्फ़ माओवाद से जुड़ी सामग्री रखने से राजद्रोह का आरोप सिद्ध नहीं होता। उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के अलग-अलग निर्णय सिर्फ़ न्यायपालिका की विभिन्न समझ ही नहीं सामने लाते बल्कि इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा एक ऐसा 'शब्दाडम्बर' है जिसका इस्तेमाल सरकार ऐसे लोगों के दमन के लिए करती है जो सरकार की वैधता को चुनौती देते हैं। बिनायक सेन द्वारा छत्तीसगढ़ सरकार की आलोचना सरकार की वैधता पर सवाल उठा रही थी।

है। सेन ने माओवादियों के विरुद्ध जारी सैन्य अभियानों की निंदा की थी। अदालत के अनुसार यह राजद्रोह के दायरे में आता है क्योंकि अर्ध-सैनिक बल और पुलिस, सरकार के बल-प्रयोग के अंग हैं।[26] इस निर्णय ने साफ़ तौर पर दो बातों की अवहेलना की। पहली बात तो यह है कि राजद्रोह का क़ानून 'सरकार की नीतियों की आलोचना' की इजाज़त देता है। सलवा जुडूम जैसी नीतियाँ इसी दायरे में आती हैं। दूसरी यह कि सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष का अर्थ है पूरी सरकार की प्रणाली के विरुद्ध असंतोष, न कि इसके किसी एक अंग के विरुद्ध। इसके अलावा बिनायक सेन पर राजद्रोही सामग्री रखने और माओवादी नेता नारायण सान्याल से संबंध रखने का आरोप साबित हुआ। पीयूष गुहा को भी राजद्रोही सामग्री, जिसमें एक पत्रिका और कुछ चिट्ठियाँ शामिल थीं, रखने के लिए आईपीसी की धारा 124ए के तहत दोषी पाया गया। पुराने चलन को क़ायम रखते हुए यूएपीए (*अनलॉफुल ऐक्टीविटीज़ प्रिवेंशन ऐक्ट*) और सीएसपीएसए (*छत्तीसगढ़ स्पेशल पब्लिक सिक्योरिटी ऐक्ट*) के अंतर्गत इन लोगों पर 'एकाधिक आरोप' लगाये गये। छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के निर्णय की देश भर में आलोचना हुई और उसके ख़िलाफ़ आंदोलन भी हुआ। 2011 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये दो निर्णयों के बाद बिनायक सेन और पीयूष गुहा को ज़मानत पर रिहा कर दिया। सेन को दिये गये ज़मानत आदेश में न्यायाधीश ने माना कि उन पर राजद्रोह का कोई मामला नहीं बनता। अदालत ने कहा कि अगर कोई माओवादी आंदोलन से सहानुभूति रखता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह एक माओवादी या राजद्रोही है। सिर्फ़ माओवाद से जुड़ी सामग्री रखने से राजद्रोह का आरोप सिद्ध नहीं होता।[27] उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के अलग-अलग निर्णय सिर्फ़ न्यायपालिका की विभिन्न समझ ही नहीं सामने लाते बल्कि इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा एक ऐसा 'शब्दाडम्बर' है जिसका इस्तेमाल सरकार ऐसे लोगों के दमन के लिए करती है जो सरकार की वैधता को चुनौती देते हैं। बिनायक सेन द्वारा छत्तीसगढ़ सरकार की आलोचना सरकार की वैधता पर सवाल उठा रही थी। उच्च न्यायालय के निर्णय को इसी वैधता के संकट के रूप में देखा जा सकता है।

बिनायक सेन जैसी कई और आवाज़ें हैं जो सरकार की नीतियों की तीखी आलोचना के कारण उसके रोष का शिकार बनती हैं। सीमा आज़ाद पर चलाया गया राजद्रोह का मुक़दमा इसी बात की पुष्टि करता है। सीमा आज़ाद एक पत्रकार हैं जो इलाहाबाद में सक्रिय हैं। उन्होंने पिछले एक दशक में मानवाधिकार हनन को लेकर कई मुद्दे उठाये। उनके सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका *दस्तक* ने राज्य सरकार की कई नीतियों की कड़ी आलोचना की। उन्होंने गंगा-एक्सप्रेस वे प्लान की भी ज़बरदस्त आलोचना की। उन्होंने *दस्तक* में इसके बारे में खुलासा किया कि इससे हज़ारों किसानों के विस्थापित

---

[26] *डॉ. बिनायक सेन और पीयूष गुहा. वर्सेज स्टेट ऑफ़ छत्तीसगढ़ ऑन 10 फ़रवरी, 2011.* क्रिमिनल अपील नम्बर 20 ऑफ़ 2011 ऐंड क्रिमिनल अपील नम्बर 54 ऑफ़ 2011, वेब पता : http://indiankanoon.org/doc/~yxvx®~z/; देखने की तारीख़ 28 दिसम्बर, 2012.

[27] 'बिनायक सेन गेट्स बेल इन सुप्रीम कोर्ट', द *हिंदू*, नयी दिल्ली, 15 अप्रैल 2011 : 1.

होने का ख़तरा है। इसके साथ ही *दस्तक* ने राज्य द्वारा आजमगढ़ के युवा मुस्लिम युवकों के दमन का भी मुद्दा उठाया था। सीमा और उनके पति विश्वविजय को 2010 में उत्तर प्रदेश की स्पेशल टास्क फ़ोर्स ने गिरफ़्तार किया। और आईपीसी की धारा 124ए के साथ यूएपीए के कई प्रावधानों के अंतर्गत मुक़दमे दायर किये। 2012 में इलाहाबाद की एक निचली अदालत ने उन दोनों को उम्र क़ैद की सज़ा सुनाई। उन्हें माओवादी क़रार दिया गया और राजद्रोह का आरोप साबित करते हुए बताया गया कि उनके पास माओवादी आंदोलन से जुड़ी प्रकाशित सामग्रियाँ मिली हैं जो राजद्रोही सामग्री की श्रेणी में आती है।[28] यह निर्णय उस वक़्त दिया गया जब बिनायक सेन के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने पहले कह दिया था कि सिर्फ़ किसी आंदोलन से जुड़ी सामग्री का पाया जाना इस आरोप को साबित नहीं करता कि अभियुक्त उस आंदोलन से जुड़ा हुआ है।

बिनायक सेन की ही तरह सीमा आज़ाद पर राजद्रोह का मुक़दमा साबित नहीं हो पाया। जून, 2012 में उन्हें इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने ज़मानत पर रिहा कर दिया। लेकिन, रिहाई के बाद भी मुद्दा यही रहता है कि राजद्रोह के क़ानून आख़िर किन अभिव्यक्तियों को दण्डित करते हैं। भले ही न्यायपालिका अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष ले कर राज्य द्वारा लगाये हुए राजद्रोह के बेबुनियाद आरोप ख़ारिज कर रही हो, लोकतंत्र में राज्य, सरकार या कार्यपालिका आलोचनापरक अभिव्यक्तियों पर सक्रियता से प्रतिबंध लगाने में जुटे हुए हैं, बावजूद इसके कि प्रतिबंधों को संवैधानिक रूप से वैध क़रार नहीं दिया जा सकता।

अदालती फ़ैसले, राजद्रोह और लोकतंत्र का दायरा

राजद्रोह के अपराध पर यह न्यायिक विमर्श निश्चित तौर पर एक प्रारूप की तरफ़ इशारा करता है। लेकिन यह कह पाना कठिन है कि यह एक सिलसिलेवार प्रारूप है। असल में राज्य की अनिवार्यता और लोकतंत्र की अनिवार्यता के बीच एक द्वंद्व लगातार मौजूद रहा है। इसकी छाप राजद्रोह से जुड़े हर निर्णय पर पड़ी है। उत्तर-औपनिवेशिक लोकतंत्र और संविधानवाद के लिए स्वतंत्रता का लोकतांत्रिक अधिकार बहुमूल्य माना गया है, पर राष्ट्र-राज्य की सुरक्षा का विमर्श हमेशा ही स्वतंत्रता की अवधारणा पर हावी हो कर इसकी रूपरेखा तैयार करता रहा है। यह माना गया है कि स्वतंत्रता के अधिकार की तभी तक गारंटी दी जा सकती है जब तक राष्ट्र-राज्य की सुरक्षा पर प्रश्न न उठे।

दरअसल, इस विश्वास की बुनियाद में युरोपियन मॉडल के आधुनिक राज्य की अवधारणा है जो उपनिवेशवाद के साथ भारत में आयी थी। इस आधुनिक राज्य को मजबूत करना उत्तर-औपनिवेशिक अवधि की ज़रूरत बन गया। आधुनिक राज्य की यह अवधारणा आधुनिक समाज से जुड़ी हुई थी और सम्प्रभुता इसकी बुनियादी विशेषता थी।[29] इस अवधारणा के कारण राज्य का स्थायीकरण हुआ और भारतीय लोकतंत्र के सामने एक अनिवार्यता के रूप में सुरक्षा का प्रश्न आया। इसमें ध्यान रखा गया कि राज्य तो रोज़मर्रा की ज़िंदगी में काफ़ी हद तक लोकतांत्रिक रहे, लेकिन इस लोकतंत्र का ख़मियाजा राज्य को न भुगतना पड़े। आईपीसी की धारा 124ए जैसे क़ानून इसी चिंता को सामने लाते हैं। इनकी मदद से लोकतांत्रिक अधिकार की सीमा वहीं तक जाती है जहाँ तक राज्य की अनिवार्यता के विमर्श को कोई चुनौती न मिले। कार्ल फ्रेड्रिख़ की 'कॉन्स्टीट्युशनल रीज़न ऑफ़ स्टेट' (राज्य का संवैधानिक तार्किक औचित्य) की संकल्पना इस चिंता को बेहतर तरीक़े से अभिव्यक्त करती है।

---

[28] पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स ऐंड पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ (2012), *सीमा आज़ाद केस : अ क्रिटीक ऑफ़ द इलाहाबाद कोर्ट जजमेंट,* वेब पता : http://sanhati.com/category/excerpted/page/z/; देखने की तारीख़ 29 जून, 2012.

[29] सुदीप्त कविराज (2003), 'अ स्टेट ऑफ़ कंट्राडिक्शन : द पोस्ट-कोलोनियल स्टेट इन इण्डिया', क्वेंटिन स्किनर और स्ट्राटा (सम्पा.), *स्टेट ऐंड सिटीज़न,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 145-163.

उनके अनुसार राज्य की संवैधानिक तार्किकता बताती है कि एक संवैधानिक व्यवस्था के घोषित शत्रुओं से किस तरह निपटना चाहिए। यह उन परिस्थितियों की बात है जब ये घोषित शत्रु वास्तव में राज्य या संविधान के नागरिक हों और इसलिए राज्य उनकी सुरक्षा के लिए जवाबदेह भी हो।[30] जाहिर है कि यहाँ चिंता का विषय वह नागरिक है जो राज्य के विरुद्ध खड़े होने की हिम्मत रखता है। इस चिंता को सीधे तौर पर 'रीज़न ऑफ़ स्टेट' (राज्य का तार्किक औचित्य) की अवधारणा से ही जोड़ा जाता है। इसके तहत राज्य के अस्तित्व को चुनौती देनी वाली हर कठिनाई का दमन अनिवार्य है। राज्य और सरकार की समझ राजद्रो को ऐसे ही 'शत्रु' या 'कठिनाई' के तौर पर देखती है जो राज्य के लिए अस्तित्व को चुनौती दे सकते हैं।

इस पूरे अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कुछ मामूली मतभेदों के साथ राजद्रोह का अपराध राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध अपराध घोषित कर दिया गया है। परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 19(2) में अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगने वाली सीमाओं में राजद्रोह के अपराध के शामिल न होने के बावजूद इसे अप्रत्यक्ष संवैधानिक वैधता प्राप्त हो गयी है। राज्य की सुरक्षा के विमर्श का वर्चस्व इस वैधता की बुनियाद है।

निस्संदेह, राजद्रोह परिभाषित करने में पैदा हुए कुछ मतभेदों ने जिस अस्पष्टता को जन्म दिया है उससे स्वतंत्रता के अधिकार को कई मरतबा फ़ायदा भी हुआ है। न्यायालय जब राजद्रोह की परिभाषा रखता है तो उससे स्वतंत्रता के अधिकार को प्राथमिकता मिली है। मसलन, कई दफ़ा अभिव्यक्ति की अंतर्वस्तु के बजाय उसके परिणाम को राजद्रोह की कसौटी माना गया। अगर किसी निर्णय में राजद्रोह को विस्तृत रूप में देखा गया तो राज्य सुरक्षा को प्राथमिकता मिली है और नतीजतन व्यक्ति के अधिकार का हनन हुआ है। असल में, राजद्रोह के क़ानून की अस्पष्टता[31] उसे राज्य की हिंसा संगठित करने में मददगार बना देती है।[32] सच्चाई यह है कि न्यायपालिका की अभिव्यक्ति का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। ऐसे बहुत से मुक़दमे रहे हैं जहाँ अदालत ने राज्य की सुरक्षा के बारे में सरकार के दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी है। दूसरी ओर न्यायपालिका ने बहुत से मामलों में सरकार द्वारा राजनीतिक प्रतिरोध दबाने के लिए राजद्रोह के क़ानून के इस्तेमाल की निंदा की है और संविधानवाद के सिद्धांत को बढ़ावा दिया है। ऐसे मामलों में अदालत ने नागरिक प्रतिरोध को राज्य सत्ता पर अंकुश लगाने का तरीक़ा माना है।

कहा जा सकता है कि न्यायिक विमर्श में राजद्रोह की अवधारणा से जुड़े बुनियादी सवालों पर बहुत गहराई से विश्लेषण नहीं किया गया है। आईपीसी की धारा 124ए के तहत यह माना जाता है कि राजद्रोह सरकार के विरुद्ध असंतोष की भावना जगाने का अपराध है। लेकिन न्यायिक विमर्श में इस सवाल पर गहराई से विचार नहीं किया गया है कि क्या यह सच में राज्य के विरुद्ध एक अपराध है? सरकार ने बहुत बड़ी संख्या में नागरिकों पर राजद्रोह के आरोप लगाये हैं। इनमें से बहुत सारे मामलों में और न्यायपालिका ने राजद्रोह का आरोप ख़ारिज किया है। ऐसे में सवाल यह उठता है कि

---

[30] कार्ल फ्रेड्रिख़ (1966), *कॉन्स्टीट्युशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमॉक्रैसी,* ऑक्सफ़र्ड ऐंड आईबीएच पब्लिशिंग कम्पनी, कलकत्ता, बॉम्बे, नयी दिल्ली.

[31] जिनी लोकनीता के अनुसार क़ानून टॉर्चर या यातना के बारे में अस्पष्ट है कि उसके तहत किस सीमा तक हिंसा करने की अनुमति है. यह अस्पष्टता ही यातना का कारण बनती है. देखें, जिनी लोकनीता (2011), *ट्रांसनैशनल टॉर्चर : लॉ, वायलेंस ऐंड स्टेट पावर इन यूनाइटेड स्टेट्स ऐंड इण्डिया,* एनवाईयू, न्यू यॉर्क ऐंड लंदन.

[32] उज्ज्वल कुमार सिंह ने यह तर्क 'असाधारण क़ानूनों' के संदर्भ में रखा है कि इस तरह के क़ानून राज्य की हिंसा को संगठित करते हैं. लेकिन राजद्रोह के क़ानून का अध्ययन दिखाता है कि किस तरह यह क़ानून अधिकारों का हनन कर रहा है, यह भी राज्य हिंसा का एक तरीक़ा ही है. देखें, उज्ज्वल कुमार सिंह (2003), 'डेमॉक्रैटिक डिलेमाज़ : कैन डेमॉक्रैसी डू विदाउट एक्स्ट्राऑर्डिनरी लॉज़?' *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 38, अंक 5 .

राजद्रोह का क़ानून वाक़ई राज्य को सुरक्षित करने में मददगार है या इसका उपयोग सरकार को सुरक्षित रखने और नागरिकों में असुरक्षा की भावना पैदा करने के लिए किया जा रहा है? न्यायिक चिंतन में राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा सीधे तौर पर राज्य की सम्प्रभुता की संकल्पना से ली गयी है। इसमें इस बात पर गहरी चुप्पी है कि नागरिकों के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय सुरक्षा का क्या अर्थ हो सकता है।

लोकतंत्र में नागरिक सम्प्रभु माने जाते हैं और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को एक अनिवार्यता माना जाता है। फिर वहाँ सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष की भावना क्यों पनपती है? सरकार के विरुद्ध जन असंतोष किस तरह राष्ट्र को हाशिये पर ला खड़ा करता है? अगर सरकार की सुरक्षा की क़ीमत राजद्रोह जैसे क़ानूनों के हाथों लोगों का दमन है तो यह किस तरह की राष्ट्रीय सुरक्षा है? अभिव्यक्ति के दमन से क्या असंतोष की भावना को दबाया जा सकता है या इसके लिए उन परिस्थितियों को दूर करना चाहिए जिसमें असंतोष की भावनाएँ पनपती हैं? ये सभी प्रश्न लोकतंत्र के भीतर राजद्रोह की अवधारणा पर पुन: विचार करने के लिए मजबूर करते हैं। अभी तक का न्यायिक विमर्श यह काम पर्याप्त रूप से नहीं कर पाया है। लोकतंत्र में राजद्रोह को केवल सरकार के दृष्टिकोण से परिभाषित राष्ट्रीय सुरक्षा या लोक व्यवस्था के मापदण्डों पर नहीं समझा जा सकता। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और सरकार से राजनीतिक असहमति रखने में निहित लोकतांत्रिक मूल्यों की बुनियाद पर राजद्रोह को समझने का प्रयास करे।

संदर्भ

कॉन्स्टीट्युएंट असेम्बली डिबेट्स, असेम्बली ऑफ़ इण्डिया, भाग 1, खण्ड 7 , 1 और 2 दिसम्बर, 1948. वेब पता : http://parliamentofindia.nic.in/ls/debates/vol|pm.htm; देखने की तारीख़ 3 दिसम्बर. 2012.

इण्डियन पीनल कोड, बेयर ऐक्ट, 2012 संस्करण, यूनिवर्सल्स, नयी दिल्ली.

ई. ब्रैण्ट (1985), *फ्रीडम ऑफ़ स्पीच,* क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

उज्ज्वल कुमार सिंह (2003), 'डेमॉक्रैटिक डिलेमाज़ : कैन डेमॉक्रैंसी डू विदाउट एक्स्ट्राऑर्डिनरी लॉज़?' *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 38, अंक 5.

उज्ज्वल कुमार सिंह (2007), *स्टेट, डेमॉक्रैसी ऐंड एंटी टेरर लॉ इन इण्डिया,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

उपेंद्र बख़्शी (2008), *प्रिलिमिनरी नोट्स ऑन ट्रांसफ़ॉरमेटिव कॉन्स्टीट्युशनलिज़म,* बीआईएसए कांफ्रेंस : कोर्टिंग जस्टिस 2, दिल्ली (अप्रैल 27-29).

ए.वी. डायसी (1962), *इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ द लॉ ऑफ़ द कॉन्स्टीट्युशन,* मैकमिलन, लंदन. कॉन्स्टीट्युएंट.

जी. सार्टोरी (1962), 'कॉन्स्टीट्युशनलिज़म : अ प्रिलिमिनरी डिस्क्शन', *अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू,* खण्ड 56.

कार्ल फ्रेड्रिख़ (1966), *कॉन्स्टीट्युशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमॉक्रैसी,* ऑक्सफ़र्ड ऐंड आईबीएच पब्लिशिंग कम्पनी, कलकत्ता, बॉम्बे, नयी दिल्ली.

केदारनाथ सिंह बनाम द स्टेट ऑफ़ बिहार, ऑन 20 जनवरी 1962. एआईआर 955, 1962 एससीआर सप्लिमेंटरी (2) 769.

कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमॉक्रैटिक राइट्स कमेटी (2012), *द टेरर ऑफ़ लॉ, यूएपीए ऐंड द मिथ ऑफ़ नैशनल सिक्योरिटी,* प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स, नयी दिल्ली.

ग्रेनविले ऑस्टिन (1999), *वर्किंग ऑफ़ अ डेमॉक्रैटिक कॉन्स्टीट्युशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

चैंटल मुफ़े (2000), *द डेमॉक्रैटिक पैराडॉक्स,* वर्सो, लंदन.

जिनी लोकनीता (2011), *ट्रांसनैशनल टॉर्चर : लॉ, वायलेंस ऐंड स्टेट पॉवर इन यूनाइटेड स्टेट्स ऐंड इण्डिया,* एनवाईयू, न्यूयॉर्क ऐंड लंदन.

जे. एलस्टर और आर. स्लैगस्टेड (सम्पा.) (1988), *कॉन्स्टीट्यूशनलिज़म ऐंड डेमॉक्रैसी,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डब्ल्यू.आर. डोनॉग (1911), द *हिस्ट्री ऐंड लॉ ऑफ़ सिडीशन,* थैसकेल, स्पिंक ऐंड कम्पनी, कलकत्ता.

डॉ. बिनायक सेन और पीयूष.गुहा .वर्सेज स्टेट ऑफ़ छत्तीसगढ़ ऑन 10 .फ़रवरी, 2011. क्रिमिनल अपील नम्बर 20 ऑफ़ 2011 ऐंड क्रिमिनल अपील नंबर 54 ऑफ़ 2011, वेब पता : http://indiankanoon.org/doc/~yxvx®~z/; देखने की तारीख़ 28 दिसम्बर, 2012.

देवी सोरेन ऐंड अदर्स बनाम द स्टेट ऑन 24 सितम्बर 1953. बीएलजेआर 99.

नंदिनी सुंदर (2007), *सबाल्टर्न ऐंड सॉवरेन्स : ऐन एंथ्रोपोलॅजिक हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली;

पी. हेमलता बनाम द गवर्नमेंट ऑफ़ आंध्र प्रदेश ऑन 23 अप्रैल, 1976. एआईआर 1976 एपी 375.

पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमॉक्रैटिक राइट्स (2007), *साइलेंसिंग डिसेंट, क्रास्ट ऑप्रेसन, पीपुल्स मूवमेंट ऐंड चार्ज ऑफ़ सिडीशन इन हरियाणा;* वेब पता : www.pudr.org; देखने की तारीख़ 23 मार्च, 2012.

पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स ऐंड पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ (2012), *सीमा आज़ाद केस : अ क्रिटीक ऑफ़ द इलाहाबाद कोर्ट जजमेंट,* वेब पता : http://sanhati.com/category/excerpted/page/z/; देखने की तारीख़ 29 जून, 2012.

पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमॉक्रैटिक राइट्स (2008), *थ्रू द लेंस ऑफ़ नैशनल सिक्योरिटी,* दिल्ली : हिंदुस्तान प्रिंटर्स.

पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमॉक्रैटिक राइट्स (2008), *.फ़ाइंडिंग्ज़ इन टू ह्युमन राइट वायलेशंस बाई पुलिस ऐंड इंटेलिजेंस अथोरिटीज़ इन उत्तराखण्ड,* वेब पता : www.pudr.org; देखने की तारीख़ 23 मार्च, 2012.

पीयूडीआर और अन्य (2006), *व्हेयर स्टेट मेक्स वॉर आन इट्स ऑन पीपुल : अ रिपोर्ट ऑन वायलेशन ऑफ़ पीपुल्स राइट्स ड्युरिंग द सलवा जुडूम कैम्पेन ऑफ़ दाँतेवाड़ा, छत्तीसगढ़,* दिल्ली, अप्रैल.

प्रोसिडिंग्ज़ ऑफ़ ऑल इण्डिया कन्वेंशन अगेंस्ट सिडिशन ऐंड अदर रिप्रेसिव लॉज़. जनवरी 31, 2012, स्थान : गाँधी शांति प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली.

ब्रजभूषण ऐंड अदर्स बनाम द स्टेट ऑफ़ दिल्ली ऑन 26 मई, 1950. एआईआर 129, 1950 एससीआर 605.

'बिनायक सेन गेट्स बेल इन सुप्रीम कोर्ट', द *हिंदू,* नयी दिल्ली, 15 अप्रैल 2011.

बिलाल अहमद कालू बनाम स्टेट ऑफ़ आंध्र प्रदेश ऑन 6 अगस्त 1997. एआईआर 1997, एससी 3483. राम नंदन बनाम स्टेट, एआईआर 1959 एआईआई 101, 1959, सीआरआईएलजे 1.

मनुभाई त्रिभुवन दास पटेल ऐंड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ़ गुजरात ऐंड अनदर, ऑन 28 सितम्बर 1971. सीआरआईएलजे 388, (1971), जीएलआर 968.

रघुबीर सिंह ऐंड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ़ बिहार ऑन 19 सितम्बर 1986. एआईआर 149, 1986 एससीआर (3) 802.

रोमेश थापर बनाम द स्टेट ऑफ़ मद्रास ऑन 26 मई, 1950, एआईआर 124, 1950 एससीआर 594.

रामदास ऐंड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ़ तमिलनाडु ऐंड अनदर ऑन 29 सितम्बर 1992 सीआरआईएलजे 2147.

सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़ (2011), नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के बाद में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला (अनु : कमल नयन चौबे), जुलाई.

सहेली, पीयूसीएल, पीयूडीआर, डब्ल्यूएसएस (2012), *एनीथिंग गोज़ ... इन द नेम ऑफ़ नैशनल सिक्यूरिटी,* प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स, नयी दिल्ली.

सिडिशन लॉज़ ऐंड डेथ ऑफ़ फ्री स्पीच इन इण्डिया (2011), सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूज़न ऐंड इनक्लूसिव पॉलिसी, नैशनल लॉ स्कूल ऑफ़ इण्डिया युनिवर्सिटी, बंगलुरू, और आल्टरनेटिव लॉ फ़ोरम, बंगलुरू, वेब पता : www.altlawforum.org/grassroots-democracy/.../Sedition...pdf/view; देखने की तारीख़ : जुलाई, 2011.

सिद्धार्थ नारायण (2011) 'डिसअफेक्शन ऐंड द लॉ : द चिलिंग एफेक्ट ऑफ़ सिडिशन लॉज इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 8.

सुदीप्त कविराज (2003), 'अ स्टेट ऑफ़ कंट्राडिक्शन : द पोस्ट-कोलोनियल स्टेट इन इण्डिया, क्वेंटिन स्किनर और स्ट्राटा (सम्पा.), *स्टेट ऐंड सिटीज़न,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 145-163.